

शतुर्मुर्ग बनता मीडिया और राजनेताओं की चरण वंदना



सरकार के कई मंत्री और उच्च पदाधिकारी इन दिनों हिंदी-अंग्रेज़ी के बड़े अखबारों में नियमित रूप से आलेख लिख रहे हैं। सम्पादक भी उन्हें सम्मान के साथ प्रकाशित कर रहे हैं। यू पी ए सरकार के जमाने में जो कुछ मंत्री और न्यायवेत्ता अखबारों में लिखते थे आज भी लिख रहे हैं। मंत्रियों द्वारा लेख लिखने के पीछे दो कारण हो सकते हैं : एक तो यह कि वे इस समय अपेक्षाकृत ज्यादा फुरसत में हैं। कहीं आना-जाना नहीं है। बंगलों पर दर्शनार्थियों की भीड़ गायब है। कहीं कोई भाषण भी नहीं देना है। मन में ढेर सारे दार्शनिक विचार उमड़ रहे होंगे जिन्हें कि जनता के सामने लाया जाना चाहिए। दूसरा कारण यह हो सकता है कि कहा गया हो कि सरकार के काम और उपलब्धियों का बखान करने का इससे बेहतर कोई और अवसर नहीं हो सकता। पढ़ने वाले फुरसत में भी हैं और घरों में क़ैद भी। साठ साल से ऊपर के पाठक तो लम्बे समय तक सिर्फ़ पढ़ने और दुखी होने का काम ही करने वाले हैं।

पाठक और दर्शक इस समय अपने प्रचार-प्रसार माध्यमों के ज़रिए कुछ ऐसा पढ़ना, देखना और समझना चाहते हैं जिससे कि उन्हें वैचारिक रूप से भी बीमार न पड़ने से बचने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़े। विशेषकर ऐसी विपरीत परिस्थिति में जब कि सोशल मीडिया के ज़रिए नक़ली खबरें बेचने वाले भी एक बड़ी संख्या में मैदान में उतर आए हों। पर ऐसा हो नहीं रहा है। मीडिया के एक प्रभावशाली तबके की संदेहास्पद होती विश्वसनीयता से निश्चित ही उन शासकों-प्रशासकों को कोई फ़र्क नहीं पड़ रहा है जिन्होंने जनता के साथ ही सीधा संवाद स्थापित कर लिया है। मसलन प्रधानमंत्री का ध्यान बार-बार इस बात की तरफ़ दिलाया जाता है कि पिछले छह वर्षों के दौरान उन्होंने एक भी बार पत्रकार वार्ता में भाग नहीं लिया। वे जब गुजरात के मुख्यमंत्री थे तब भी वे ऐसा ही करते थे।

व्यवस्थाएँ जब पत्रकारिता को भी अपने मातहत कर लेती हैं या उसके अस्तित्व के प्रति दिखावे के तौर पर ही सही उदासीनता ओढ़ लेती हैं तो फिर जनता भी लिखे जाने वाले शब्दों को राशन की दुकानों से मजबूरी में खरीदे जाने वाले लाल गेहूँ की तरह ही स्वीकार करने लगती है। ऐसे में मंत्रियों के लिखे को लेकर पाठकों की प्रतिक्रिया का कोई निष्पक्ष मूल्यांकन भी नहीं किया सकता। शब्दों की जैविक खेती करने वाले अवश्य ही अपनी उपज को बर्बाद होते हुए चुपचाप देखते रहते हैं क्योंकि उनके पैर रखने के लिए अखबारों की मंडी में तब कोई जगह ही नहीं बचती।

मीडिया की भूमिका को लेकर सवाल भी दो कारणों से उपस्थित हुआ है : पहला तो यह कि जब हम भी

एक वैश्विक संकट का ही हिस्सा हैं तो अपने हिस्से की चुनौतियों को लेकर अन्य प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं के मुकाबले हमारे मीडिया के एक प्रभावशाली वर्ग की निश्चिंतता क्या कोई संदेह नहीं पैदा करती ? इसमें मीडिया का वह वर्ग शामिल नहीं है जो प्रत्येक व्यवस्था में एक ईमानदार प्रतिपक्ष की भूमिका यह मानते हुए निभाता रहता है कि कोई भी हुकूमत पूरी तरह से आदर्श नहीं हो सकती। पर इस सीमित मीडिया की पहुँच उस व्यापक पाठक-दर्शक समूह तक नहीं है जिसके कि लिए राजनीतिक नेतृत्व से जुड़े लोग प्रशस्तियाँ लिख रहे हैं। दूसरा यह कि अगर सरकार घरेलू मीडिया की विश्वसनीयता के प्रति उदासीन रहना चाहती है तो फिर विदेशी मीडिया में अपनी प्रतिकूल छवि को लेकर उसे चिंतित भी क्यों होना चाहिए ?

पहले कारण की बात करें तो संकट के अब तक के तीन महीनों के लम्बे समय के दौरान मीडिया द्वारा सरकार से किसी भी तरह के सवालों की पूछताछ कर पाठकों और दर्शकों के प्रति अपनी जवाबदेही निभाने के बजाय या तो असली मुद्दों से बहस को भटकाकर सरकारी अभियोजक बनने की कोशिश की गई या फिर एक वर्ग विशेष को बलि का बकरा बनाकर व्यवस्था की कमियों पर पर्दा डालने के प्रयास किए गए। आम रवैया यही दर्शाने का रहा कि दूसरे देशों के मुकाबले हमारे यहाँ संक्रमितों और मौतों की संख्या काफी कम है। हमारे मीडिया द्वारा उपेक्षित खबरें जब विदेशी प्रचार माध्यमों में बताई जाती हैं तो उसे भारत के खिलाफ दुष्प्रचार और फ़ेक न्यूज़ करार देकर खारिज कर दिया जाता है। व्यवस्था की नाकामियों के कारण होने वाले असाधारण कष्टों और नागरिक मौतों को अदृश्य राष्ट्रवाद के नारों में लपेट कर ज़मीन में गहरे दफ़न कर दिया जाता है।

दुनिया के एक सौ अस्सी देशों में प्रेस की आज़ादी को लेकर हाल ही में जो रैंकिंग जारी की गई है उसके अनुसार हम वर्ष 2019 के मुकाबले दो पायदान और नीचे खिसक कर 142वें क्रम पर पहुँच गए हैं। वर्ष 2018 के सर्वे में हम 138वें और 2016 में 133वें स्थान पर थे। पड़ोसी देश भूटान, नेपाल और श्री लंका हमसे कहीं ऊपर हैं। सूचना और प्रसारण मंत्री मंत्री प्रकाश जावडेकर का प्रतिक्रिया में कहना है कि प्रेस की आज़ादी के मामले में भारत की छवि को खराब तरीके से दिखाने वाले सर्वे की असलियत को सरकार बेनकाब कर देगी। हम क्या कभी भी यह स्वीकार करने को तैयार हो सकेंगे कि महामारी के दौरान और उसके बाद की स्थितियों से निपटने का बहुत सारा सम्बंध इस बात से भी रहने वाला है कि नागरिकों को जिस तरह की सूचनाओं और जानकरियों से मीडिया द्वारा समय-समय पर अवगत कराया गया उनमें उनका कभी भरोसा ही नहीं रहा ? इसे व्यावसायिक मीडिया की तात्कालिक मज़बूरी ही माना जाना चाहिए कि परिस्थितियों के कारण उसे सरकारों की नाराज़गी और महामारी के प्रकोप दोनों से ही बचते हुए प्रवासी मज़दूरों के साथ-साथ सड़कों पर इतनी कड़ी धूप में भी पैदल चलना पड़ रहा है।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार एवं राजनीतिक विश्लेषक हैं)